



आधुनिक लोकतंत्र में संवैधानिकतावाद: सीमित सरकार और प्रभावी शासन के बीच संतुलन

डॉ. इंदु बघेल

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, भारती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

DOI : <https://doi.org/10.5281/zenodo.23281474>

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Received: 22-07-2026

Accepted: 21-08-2026

Published: 25-09-2026

Keywords:

संवैधानिकतावाद, आधुनिक लोकतंत्र, सीमित सरकार, प्रभावी शासन, विधि का शासन, न्यायिक समीक्षा, मूल संरचना, मौलिक अधिकार, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व।

ABSTRACT

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में संवैधानिकतावाद राज्य की शक्ति को नियंत्रित करने और नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा करने वाली एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसका मूल उद्देश्य सरकार को कमजोर करना नहीं, बल्कि उसकी शक्तियों को संविधान, विधि के शासन और नागरिक अधिकारों की सीमाओं के भीतर संचालित करना है। आधुनिक राज्य से सामाजिक न्याय, आर्थिक विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण जैसे विविध क्षेत्रों में प्रभावी भूमिका निभाने की अपेक्षा की जाती है। इसलिए संवैधानिक लोकतंत्र के सामने प्रमुख चुनौती यह है कि सरकार को आवश्यक निर्णय लेने के लिए पर्याप्त शक्ति प्राप्त हो, लेकिन वह शक्ति मनमानी अथवा निरंकुश न बन सके। प्रस्तुत शोध-पत्र संवैधानिकतावाद की अवधारणा, उसके ऐतिहासिक विकास और सैद्धांतिक आधार का विश्लेषण करता है। इसमें राजनीतिक एवं विधिक संवैधानिकतावाद के बीच संबंध तथा सीमित सरकार और प्रभावी शासन के बीच संतुलन की आवश्यकता पर विचार किया गया है। भारतीय संदर्भ में संविधान की सर्वोच्चता, विधि का शासन, शक्तियों का पृथक्करण, न्यायिक समीक्षा और मौलिक अधिकारों के महत्व को रेखांकित किया गया है। विशेष रूप से केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) के निर्णय और मूल संरचना सिद्धांत का विश्लेषण किया गया है, जिसने संसद की संविधान संशोधन शक्ति को संवैधानिक सीमाओं के अधीन किया। साथ ही अमेरिका, ब्रिटेन और दक्षिण अफ्रीका के संवैधानिक अनुभवों के माध्यम से

Disclaimer: The opinions, interpretations, conclusions, recommendations, analyses, and statements expressed in this research article are solely those of the author(s) and do not reflect the views, policies, or positions of the Publisher, Chief Editor, Editors, Editorial Board, Reviewers, or their affiliated institutions. The author(s) are solely responsible for ensuring the originality, authenticity, and integrity of the manuscript and for ensuring that it is free from plagiarism, AI-generated content, copyright infringement, data falsification, and any other form of academic misconduct.

तुलनात्मक दृष्टि प्रस्तुत की गई है। अध्ययन का निष्कर्ष है कि संवैधानिकतावाद प्रभावी शासन के मार्ग में बाधा नहीं, बल्कि शासन की वैधता, उत्तरदायित्व और स्थायित्व का आधार है।

1. प्रस्तावना

लोकतंत्र को सामान्यतः जनता द्वारा चुनी गई सरकार और बहुमत के शासन की व्यवस्था के रूप में समझा जाता है। किंतु आधुनिक लोकतंत्र केवल चुनावों और बहुमत के आधार पर संचालित होने वाली व्यवस्था नहीं है। लोकतंत्र की वास्तविक सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सत्ता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है, सरकार की शक्तियों की सीमाएँ क्या हैं तथा नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं की किस प्रकार रक्षा की जाती है। इसी संदर्भ में संवैधानिकतावाद आधुनिक लोकतांत्रिक शासन का एक अनिवार्य आधार बनकर सामने आता है।

संवैधानिकतावाद का मूल विचार यह है कि सरकार आवश्यक है, लेकिन उसकी शक्ति असीमित नहीं हो सकती। शासन करने वाली संस्थाएँ संविधान से अपनी वैधता और शक्तियाँ प्राप्त करती हैं तथा उन्हें संविधान और कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर कार्य करना होता है। इस प्रकार संवैधानिकतावाद सरकार की शक्ति और नागरिक स्वतंत्रता के बीच एक संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है।

आधुनिक कल्याणकारी राज्य की भूमिका पारंपरिक राज्य की तुलना में अत्यधिक विस्तृत हो गई है। राज्य से अब केवल आंतरिक शांति और बाहरी सुरक्षा सुनिश्चित करने की अपेक्षा नहीं की जाती, बल्कि शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक विकास, पर्यावरण संरक्षण, गरीबी उन्मूलन और सामाजिक न्याय के क्षेत्र में भी सक्रिय हस्तक्षेप की अपेक्षा की जाती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार को पर्याप्त शक्ति और प्रशासनिक क्षमता की आवश्यकता होती है। यदि सरकार की शक्तियाँ अत्यधिक सीमित हों, तो वह सार्वजनिक समस्याओं का प्रभावी समाधान करने में असमर्थ हो सकती है। दूसरी ओर, यदि सरकार को व्यापक और अनियंत्रित शक्ति प्रदान कर दी जाए, तो सत्ता के दुरुपयोग, बहुमतवाद और नागरिक अधिकारों के उल्लंघन का खतरा उत्पन्न हो सकता है।

इसलिए आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र की केंद्रीय चुनौती सरकार को सीमित करने और उसे प्रभावी बनाए रखने के बीच उचित संतुलन स्थापित करना है। संवैधानिकतावाद इसी संतुलन को सैद्धांतिक और संस्थागत आधार प्रदान करता है।

2. संवैधानिकतावाद की अवधारणा और ऐतिहासिक विकास

संवैधानिकतावाद को केवल संविधान के अस्तित्व के समान नहीं माना जा सकता। संविधान किसी राज्य की शासन-व्यवस्था का मूल कानूनी ढाँचा निर्धारित करता है। इसके अंतर्गत शासन की संस्थाओं की संरचना, शक्तियों का



विभाजन और नागरिकों के अधिकारों का निर्धारण किया जाता है। इसके विपरीत संवैधानिकतावाद यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि सरकार वास्तव में संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं का पालन करे।

दूसरे शब्दों में, संविधान शासन की संरचना प्रदान करता है, जबकि संवैधानिकतावाद सत्ता के प्रयोग को नियंत्रित करने की राजनीतिक और विधिक संस्कृति विकसित करता है। इसलिए किसी देश में लिखित संविधान का होना अपने आप में संवैधानिकतावाद की गारंटी नहीं है। यदि सरकार संविधान की भावना और सीमाओं की उपेक्षा करती है, संस्थाएँ स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करती और नागरिक अधिकार प्रभावी रूप से सुरक्षित नहीं हैं, तो केवल संविधान का अस्तित्व संवैधानिक शासन स्थापित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

संवैधानिकतावाद के विचार की जड़ें प्राचीन राजनीतिक चिंतन में देखी जा सकती हैं। अरस्तू ने विभिन्न शासन-रूपों और उनके विकृत रूपों का अध्ययन करते हुए सत्ता के संतुलन और मिश्रित शासन की आवश्यकता पर विचार किया। रोमन राजनीतिक व्यवस्था में भी कानून और राजनीतिक सत्ता के संबंध पर विचार विकसित हुआ। मध्यकालीन यूरोप में राजा की शक्ति को सीमित करने की दिशा में अनेक प्रयास हुए। 1215 की मैग्ना कार्टा को इसी प्रक्रिया में महत्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है, क्योंकि इससे यह विचार मजबूत हुआ कि शासक भी कुछ विधिक सीमाओं के अधीन है।

इंग्लैंड में ब्रैक्टन और एडवर्ड कोक जैसे विधिवेत्ताओं ने कानून की सर्वोच्चता के विचार को आगे बढ़ाया। 1688-89 की गौरवमयी क्रांति के बाद संसद की भूमिका, मंत्रिस्तरीय उत्तरदायित्व और न्यायिक स्वतंत्रता को अधिक संस्थागत आधार मिला। आगे चलकर ब्लैकस्टोन और ए. वी. डाइसी जैसे विचारकों ने कानून के शासन और संवैधानिक शासन के सिद्धांत को विकसित किया।

आधुनिक संवैधानिकतावाद के विकास में जॉन लॉक, मोंतेस्क्यू और अमेरिकी संवैधानिक चिंतन का विशेष योगदान रहा। लॉक ने सीमित सरकार, जनता की सहमति और प्राकृतिक अधिकारों को महत्व दिया। मोंतेस्क्यू ने शक्तियों के पृथक्करण को राजनीतिक स्वतंत्रता की सुरक्षा का आवश्यक साधन माना। अमेरिकी संविधान, 1787 ने नियंत्रण एवं संतुलन तथा संघीय व्यवस्था के माध्यम से सत्ता के केंद्रीकरण को रोकने का प्रयास किया। दूसरी ओर फ्रांसीसी क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और नागरिक अधिकारों को आधुनिक संवैधानिक विचारधारा के प्रमुख तत्वों के रूप में स्थापित किया।

बीसवीं शताब्दी में संवैधानिकतावाद ने एक नया स्वरूप ग्रहण किया। द्वितीय विश्व युद्ध और अधिनायकवादी शासन के अनुभवों के बाद मानवाधिकारों की रक्षा, न्यायिक समीक्षा और संवैधानिक न्यायालयों का महत्व बढ़ा। नवस्वतंत्र देशों ने भी संविधान के माध्यम से लोकतांत्रिक शासन, सामाजिक न्याय और नागरिक अधिकारों को संस्थागत बनाने का प्रयास किया। भारत इसी व्यापक संवैधानिक विकास की एक महत्वपूर्ण मिसाल है।

3. राजनीतिक एवं विधिक संवैधानिकतावाद

संवैधानिकतावाद की व्यापक समझ के लिए राजनीतिक और विधिक संवैधानिकतावाद के बीच अंतर को समझना आवश्यक है। राजनीतिक संवैधानिकतावाद सत्ता को मुख्यतः लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से नियंत्रित करने पर बल देता है। चुनाव, संसद, विपक्ष, राजनीतिक दल, नागरिक समाज और सार्वजनिक विमर्श इसके प्रमुख माध्यम हैं। इसके अनुसार सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी रहे और जनता चुनावों के माध्यम से सरकार को बदलने की क्षमता रखे, तो सत्ता पर प्रभावी लोकतांत्रिक नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है।

विधिक संवैधानिकतावाद इसके अतिरिक्त न्यायपालिका और कानून की भूमिका पर बल देता है। संविधान को सर्वोच्च विधि मानते हुए यह सुनिश्चित किया जाता है कि संसद और कार्यपालिका भी संविधान की सीमाओं का उल्लंघन न करें। मौलिक अधिकारों की रक्षा, न्यायिक समीक्षा और स्वतंत्र न्यायपालिका इसके प्रमुख तत्व हैं।

दोनों दृष्टिकोणों में कुछ तनाव दिखाई देता है। लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित संसद को जनता की इच्छा का प्रतिनिधि माना जाता है, जबकि न्यायपालिका निर्वाचित संस्था नहीं होती। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि क्या न्यायपालिका को संसद द्वारा बनाए गए कानूनों को असंवैधानिक घोषित करने की शक्ति होनी चाहिए। दूसरी ओर, यदि बहुमत को पूर्ण शक्ति प्रदान कर दी जाए, तो बहुमत अल्पसंख्यकों के अधिकारों को प्रभावित कर सकता है या संवैधानिक संस्थाओं को कमजोर कर सकता है।

इसलिए आधुनिक लोकतंत्र में दोनों के बीच संतुलन आवश्यक है। लोकतांत्रिक संस्थाएँ सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाती हैं, जबकि न्यायिक और संवैधानिक संस्थाएँ यह सुनिश्चित करती हैं कि बहुमत भी संविधान की मूल सीमाओं का उल्लंघन न करे।

4. सीमित सरकार और प्रभावी शासन का संतुलन

सीमित सरकार का अर्थ ऐसी सरकार से है जिसकी शक्तियाँ कानून और संविधान से नियंत्रित हों। इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार निष्क्रिय या कमजोर हो। वास्तव में आधुनिक राज्य के लिए प्रभावी शासन आवश्यक है। सरकार को आपदा, महामारी, आतंकवाद, आर्थिक संकट, बेरोजगारी और सामाजिक असमानता जैसी परिस्थितियों में शीघ्र निर्णय लेने पड़ सकते हैं।

इस संदर्भ में संवैधानिकतावाद सरकार को आवश्यक शक्ति प्रदान करने और उस शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के बीच संतुलन स्थापित करता है। विधि का शासन यह सुनिश्चित करता है कि सरकारी निर्णय कानून के आधार पर हों। शक्तियों का पृथक्करण यह सुनिश्चित करता है कि सभी शक्तियाँ एक ही संस्था के हाथों में केंद्रित न हो जाएँ। नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था विभिन्न संस्थाओं को एक-दूसरे की शक्तियों पर निगरानी रखने का अवसर देती है।

मौलिक अधिकार सरकार की शक्ति पर एक महत्वपूर्ण सीमा लगाते हैं। राज्य को सार्वजनिक हित में अनेक निर्णय लेने का अधिकार है, लेकिन उसे नागरिकों की स्वतंत्रता, समानता और गरिमा का सम्मान करना होता है। इसी प्रकार न्यायिक समीक्षा यह सुनिश्चित करती है कि विधायिका और कार्यपालिका संविधान के अनुरूप कार्य करें।

संवैधानिकतावाद का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू उत्तरदायित्व है। प्रभावी शासन केवल शीघ्र निर्णय लेने से नहीं बनता। निर्णयों में पारदर्शिता, जवाबदेही और नागरिकों का विश्वास भी आवश्यक है। यदि सरकार तेजी से निर्णय लेती है लेकिन वे निर्णय मनमाने या असंवैधानिक हैं, तो उन्हें प्रभावी शासन नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टि से संवैधानिकतावाद प्रभावी शासन के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसकी वैधता और स्थायित्व का आधार है।

5. भारतीय संवैधानिकतावाद और केशवानंद भारती मामला

भारतीय संविधान ने संवैधानिकतावाद के विभिन्न तत्वों का व्यापक समन्वय किया है। संविधान की सर्वोच्चता, मौलिक अधिकार, स्वतंत्र न्यायपालिका, न्यायिक समीक्षा, संघवाद, संसदीय लोकतंत्र और शक्तियों का विभाजन भारतीय संवैधानिक व्यवस्था को शक्ति के केंद्रीकरण से बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भारतीय संवैधानिकतावाद के इतिहास में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) का विशेष महत्व है। यह मामला संसद की संविधान संशोधन शक्ति से संबंधित था। इससे पहले शंकरि प्रसाद बनाम भारत संघ (1951) में संसद की संशोधन शक्ति को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया था। सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1965) ने भी इसी दिशा को आगे बढ़ाया। इसके विपरीत गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद की मौलिक अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति पर महत्वपूर्ण सीमा लगाई।

इसी संवैधानिक विवाद की पृष्ठभूमि में केशवानंद भारती मामला सामने आया। 13 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने इस मामले की सुनवाई की। 24 अप्रैल 1973 को 7:6 के बहुमत से दिए गए निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि संसद संविधान में संशोधन कर सकती है, लेकिन संविधान की मूल संरचना को नष्ट नहीं कर सकती।

यहीं से मूल संरचना सिद्धांत का विकास हुआ। न्यायालय ने मूल संरचना की कोई संपूर्ण और अंतिम सूची निर्धारित नहीं की, किंतु बाद के निर्णयों में संविधान की सर्वोच्चता, लोकतांत्रिक एवं गणतांत्रिक शासन, धर्मनिरपेक्षता, संघवाद, शक्तियों का पृथक्करण, विधि का शासन, न्यायिक समीक्षा, न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव जैसे तत्वों को मूल संरचना से संबंधित माना गया।

इस निर्णय का संवैधानिकतावाद के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह था कि इसने निर्वाचित संसद की शक्ति को भी संविधान की सीमाओं के अधीन रखा। लोकतांत्रिक बहुमत को संविधान की मूल पहचान समाप्त करने की अनुमति नहीं दी गई। इससे संवैधानिक सर्वोच्चता और लोकतांत्रिक शासन के बीच संतुलन स्थापित हुआ।

मूल संरचना सिद्धांत ने यह भी स्पष्ट किया कि संविधान पूरी तरह कठोर दस्तावेज नहीं है। संसद को बदलती सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है, लेकिन वह संशोधन संविधान की मूल पहचान को समाप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार यह सिद्धांत परिवर्तन और निरंतरता के बीच संतुलन स्थापित करता है।

बाद के इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण (1975), मिन्टो मिल्स बनाम भारत संघ (1980) और एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) जैसे मामलों ने संवैधानिक मूल्यों और मूल संरचना के विभिन्न पहलुओं को और स्पष्ट किया। इस प्रकार केशवानंद भारती भारतीय संवैधानिकतावाद में एक ऐसी सीमा रेखा स्थापित करता है जिसके भीतर लोकतांत्रिक शासन अपनी शक्ति का प्रयोग करता है।

6. तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य और समकालीन चुनौतियाँ

संवैधानिकतावाद का स्वरूप विभिन्न देशों में उनके ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक अनुभवों के अनुसार विकसित हुआ है। संयुक्त राज्य अमेरिका में लिखित संविधान, शक्तियों का पृथक्करण और नियंत्रण एवं संतुलन इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। *Marbury v. Madison* (1803) के बाद न्यायिक समीक्षा अमेरिकी संवैधानिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बन गई। वहाँ संविधान और न्यायपालिका सरकार की शक्ति पर महत्वपूर्ण नियंत्रण रखते हैं।

ब्रिटेन का संवैधानिक अनुभव अलग है। वहाँ संविधान किसी एक दस्तावेज में संहिताबद्ध नहीं है। कानून, न्यायिक निर्णय, संवैधानिक परंपराएँ और राजनीतिक प्रथाएँ मिलकर संवैधानिक व्यवस्था बनाती हैं। इस व्यवस्था का प्रमुख लाभ लचीलापन है, किंतु संसदीय शक्ति की व्यापकता के कारण संवैधानिक नियंत्रण का स्वरूप अलग प्रकार का है।

दक्षिण अफ्रीका का संविधान संवैधानिकतावाद के परिवर्तनकारी स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 1996 के संविधान ने मानव गरिमा, समानता, सामाजिक न्याय और अधिकारों की रक्षा को विशेष महत्व दिया। वहाँ संवैधानिक व्यवस्था केवल राज्य की शक्ति सीमित करने तक सीमित नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक असमानताओं को दूर करने का माध्यम भी है।

भारत की संवैधानिक व्यवस्था इन विभिन्न अनुभवों के बीच एक विशिष्ट मॉडल प्रस्तुत करती है। भारतीय संविधान ने संसदीय लोकतंत्र और न्यायिक समीक्षा के साथ-साथ सामाजिक न्याय, मौलिक अधिकार और संघवाद को महत्व

दिया है। भारतीय संवैधानिकतावाद का लक्ष्य केवल सरकार को रोकना नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार को सक्षम बनाना भी है।

हालाँकि वर्तमान समय में संवैधानिकतावाद के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं। सत्ता का अत्यधिक केंद्रीकरण, संस्थागत स्वायत्तता से जुड़े प्रश्न, राजनीतिक बहुमतवाद, नागरिक स्वतंत्रताओं और राष्ट्रीय सुरक्षा के बीच संतुलन, न्यायिक स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा संवैधानिक संस्थाओं के प्रति सार्वजनिक विश्वास जैसी चुनौतियाँ महत्वपूर्ण हैं।

डिजिटल युग ने संवैधानिक अधिकारों के सामने नई समस्याएँ भी उत्पन्न की हैं। निजता, डिजिटल निगरानी, इंटरनेट पर अभिव्यक्ति, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और व्यक्तिगत डेटा की सुरक्षा जैसे विषय आने वाले समय में संवैधानिक विमर्श को प्रभावित करेंगे। ऐसे में संवैधानिकतावाद को स्थिर अवधारणा के बजाय बदलती परिस्थितियों के अनुरूप विकसित होने वाली जीवंत व्यवस्था के रूप में देखना आवश्यक है।

संवैधानिक संस्थाओं की मजबूती केवल न्यायपालिका पर निर्भर नहीं हो सकती। संसद की प्रभावी कार्यप्रणाली, स्वतंत्र और जिम्मेदार मीडिया, राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र, सक्रिय नागरिक समाज तथा नागरिकों में संवैधानिक मूल्यों के प्रति जागरूकता भी आवश्यक है। संवैधानिकतावाद तभी प्रभावी हो सकता है जब संविधान केवल कानूनी दस्तावेज न रहकर राजनीतिक संस्कृति का हिस्सा बने।

निष्कर्ष

आधुनिक लोकतंत्र में संवैधानिकतावाद सरकार की शक्ति को नियंत्रित करने और प्रभावी शासन सुनिश्चित करने के बीच संतुलन स्थापित करने वाला महत्वपूर्ण सिद्धांत है। यह सरकार की शक्ति को समाप्त नहीं करता, बल्कि यह निर्धारित करता है कि शक्ति का प्रयोग किस प्रकार किया जाए। सीमित सरकार का अर्थ कमजोर सरकार नहीं, बल्कि ऐसी सरकार है जो संविधान और कानून के अधीन रहते हुए प्रभावी ढंग से कार्य करती है।

संवैधानिकतावाद विधि के शासन, शक्तियों के पृथक्करण, न्यायिक समीक्षा, मौलिक अधिकारों और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व के माध्यम से सरकार को मनमानी शक्ति के प्रयोग से रोकता है। साथ ही यह सरकार को सार्वजनिक हित और सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक कार्य करने की संवैधानिक वैधता प्रदान करता है।

भारतीय संदर्भ में केशवानंद भारती निर्णय इस संतुलन का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है। मूल संरचना सिद्धांत ने यह स्पष्ट किया कि संसद संविधान में परिवर्तन कर सकती है, लेकिन उसकी मूल पहचान को समाप्त नहीं कर सकती। इसने लोकतांत्रिक बहुमत और संवैधानिक सर्वोच्चता के बीच संतुलन स्थापित किया तथा भारतीय संवैधानिकतावाद को मजबूत आधार प्रदान किया।



अंततः यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति केवल बहुमत में नहीं, बल्कि संवैधानिक सीमाओं के भीतर बहुमत के प्रयोग में निहित है। प्रभावी शासन तभी लोकतांत्रिक और वैध माना जा सकता है जब वह नागरिक स्वतंत्रता, समानता, न्याय और विधि के शासन का सम्मान करे। इसलिए संवैधानिकतावाद आधुनिक लोकतंत्र में सरकार की शक्ति को सीमित करने के साथ-साथ उसे अधिक उत्तरदायी, वैध और प्रभावी बनाने का माध्यम भी है। यही सीमित सरकार और प्रभावी शासन के बीच वह संतुलन है जो संवैधानिक लोकतंत्र को स्थायित्व प्रदान करता है।

संदर्भ सूची

1. Austin, Granville. The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation. Oxford University Press.
2. Baxi, Upendra. The Indian Supreme Court and Politics. Eastern Book Company.
3. Dicey, A. V. Introduction to the Study of the Law of the Constitution. Macmillan.
4. Dworkin, Ronald. Taking Rights Seriously. Harvard University Press.
5. Friedrich, Carl J. Constitutional Government and Democracy. Ginn & Company.
6. Locke, John. Two Treatises of Government.
7. McIlwain, Charles Howard. Constitutionalism: Ancient and Modern. Cornell University Press.
8. Montesquieu. The Spirit of the Laws.
9. Madison, James, Alexander Hamilton and John Jay. The Federalist Papers.
10. Tushnet, Mark. Constitutional Law.
11. Kesavananda Bharati v. State of Kerala, (1973) 4 SCC 225.
12. Shankari Prasad v. Union of India, 1951.
13. Sajjan Singh v. State of Rajasthan, 1965.
14. I. C. Golaknath v. State of Punjab, 1967.
15. Indira Nehru Gandhi v. Raj Narain, 1975.
16. Minerva Mills Ltd. v. Union of India, 1980.
17. S. R. Bommai v. Union of India, 1994.
18. Marbury v. Madison, 1803.
19. Government of the Republic of South Africa v. Grootboom, 2000.
20. **भारत का संविधान।**